

6.1

शोध प्रश्न-10: क्या नीति शिक्षा वैज्ञानिक व तकनीकी विकास में बाधा नहीं होगी?

विवेचन व निष्कर्ष

इसी शोध प्रबन्ध के अनुच्छेद 3.1.2 से 3.1.4 में नीति, शिक्षा और 'नीति शिक्षा' सम्बन्धी विवेचन व निष्कर्ष व्यक्त किये गये हैं। विश्वविद्यालय के नियम में अनुमति न होने के कारण उक्त विवेचन व निष्कर्ष की पुनरावृत्ति यहाँ नहीं की जा रही है; हालांकि उक्त विवेचन व निष्कर्ष इस प्रश्न के उत्तर के अंग व आधार हैं। इस शोध प्रश्न सम्बन्धी अतिरिक्त विवेचन निम्नलिखित है।

विज्ञान और आत्मज्ञान (आध्यात्म और धर्म) दोनों ही अपरिहार्य हैं। अभूतपूर्व विज्ञान प्रगति से उत्पन्न टेक्नोलॉजी विकास का मार्गदर्शन अनिवार्यतः सामूहिक अहिंसा के सिद्धान्त से करने की आवश्यकता है। विज्ञान की सामूहिक अहिंसा का योग समृद्धि प्रदान करेगी और खुद विज्ञान प्रगति करेगा। दूसरी अनिवार्य जरूरत इस परमाणुयुग में है कि व्यक्ति अपनी इच्छायें कम करे और अपने विचारों का वैश्वीकरण करे। विश्वस्तर पर एकीकृत धर्म होना। एकीकृत धर्म से व्यक्तिगत तथा समाज, दोनों की आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिये। आध्यात्म का वास्तविक अर्थ है 'मैं' और 'मेरा' पन का परित्याग। (भावे, 1959)

प्राचीन काल से विज्ञान प्रगति करता आया है और भविष्य में भी विज्ञान को प्रगति करते रहना चाहिये। तब ही मानव जीवन सुन्दर से और सुन्दर बनेगा क्योंकि जितना ज्ञान में विकास होगा उतना ही अधिक अच्छे ढंग से सृष्टि की प्रकृति को समझा जा सकेगा। किन्तु विज्ञान की शक्तियों के प्रकार को ध्यान में रखना होगा। विज्ञान में दो प्रकार की शक्तियाँ होती हैं— एक रचनात्मक और दूसरी विध्वंसात्मक शक्ति। अर्थात्, विज्ञान सेवा भी कर सकता है और प्राण भी हर सकता है। विज्ञान के उपयोग से आग के माध्यम से खाना भी बनाया जा सकता है और उस आग से घर भी जल सकता है। इसके बावजूद भी साईंस यह नहीं निर्णय करती है कि साईंस का प्रयोग रचनात्मकता के लिये हो या विध्वंश के लिये। विज्ञान की रचनात्मक शक्ति और विध्वंसात्मक शक्ति में से किसका प्रयोग किया जाये, यह निर्णय लेने वाला है 'आत्मज्ञान' (आध्यात्म व धर्म)। जिस प्रकार पक्षी दो परों से उड़ता है, उसी प्रकार मानव की गति विज्ञान और आत्मज्ञान रूपी दो पंखों आधारित होना चाहिये आत्मज्ञान यदि हमारी आँखें हैं तो विज्ञान पैर। बिना विज्ञान के संसारिक कार्य नहीं सम्पन्न हो सकते, और बिना आत्मज्ञान के विज्ञान उचित मार्ग और समाधान प्राप्त नहीं कर सकते। (भावे, 1959)

विज्ञान की भाँति, वैज्ञानिक भी निर्णय नहीं लेते हैं कि विज्ञान का प्रयोग विध्वंस के लिये हो या रचनात्मक उद्देश्य के लिये। (भावे, 1959)

अतः विज्ञान का दिशा-निदेशक आत्मज्ञान होना चाहिये। और आत्मज्ञान से अहिंसा भाव उत्पन्न होता है। अतः यह धरा स्वर्ग तब ही स्वर्गरूप हो सकती है जब अहिंसा व विज्ञान एकीकृत हों। (भावे, 1959)

और यदि हिंसा का पथ ही अपनाना है, तो इस दशा में विज्ञान की प्रगति रोक देनी होगी; अर्थात् यदि लोग लड़ना ही चाहते हैं तो हाथ पैर का युद्ध करें, घातक विस्फोटक व विध्वंसकारी शस्त्रों, बमों, गोला-बारूद, बन्दूकों की जरूरत नहीं। (भावे, 1959)

लेकिन चूँकि मानव मस्तिष्क से विज्ञान की उपज सामान्यतः रोकी नहीं जा सकती, इसलिये समस्त समस्याओं को शान्ति पूर्वक हल करने का एक ही रास्ता है— और वो है, अहिंसा पालक विज्ञान। (भावे, 1959)

विज्ञान और वैज्ञानिक तो विकसित हों। किन्तु मृत्यु वास्ते उपकरण नहीं बनायें। विज्ञान की प्रगति तभी सार्थक और औचित्यपूर्ण होगी जब मानव समस्याओं को अहिंसात्मक विधि से सुलझाया जाये; न कि घातक शस्त्रों, गोला-बारूद विध्वंसात्मक रास्ते से। (भावे, 1959)

विज्ञान और अहिंसा एक दूसरे के विरोधी हैं। विज्ञान और अहिंसा, दोनों एक साथ टिक ही नहीं सकते। यदि दोनों को ही रख गया तो मानव व मानवता का विनाश निश्चित है। (भावे, 1959)

यदि हिंसा के माध्यम से समस्याओं को हल करेंगे तो मानव सम्बन्धों में कटुता, शत्रुता, प्रतिस्पर्धा, जीत-हार भाव, उच्च-निम्न भाव, राग-द्वेष आदि पनपेंगे और हर तरफ नयी-नयी समस्यायें उत्पन्न होंगी, समाज में कलह की स्थिति रहेगी और खुशहाली का आभाव रहेगा। इसके विपरीत यदि अहिंसा पालन करते हुये यदि समस्यायें हल की जाती हैं, तो समाज में भाई-चारा, अपनापन, प्रेम, दया, त्याग आदि मानवीय गुणों में वृद्धि होगी। (भावे, 1959)

क्या बुराईयों व अपराधों को कानून बना कर और व्यक्तियों को सजा देकर दूर नहीं किया जा सकता है?

उत्तर है, नहीं। कानून का अभिप्रेत है, शक्ति का प्रयोग कर समस्या पर नियन्त्रण रखने की विधि। कितने कानून कितने लम्बे भूत-काल से प्रवृत्त हैं, क्या उनके जारिये सम्बन्धित अपराध खत्म हो सके? नहीं। क्योंकि इस वास्तविकता को ध्यान में नहीं रखा गया कि कानून से अच्छे फल तभी प्राप्त हो सकते हैं जबकि कानून बनाये और इस्तेमाल करने के पहले लोगों में उपयुक्त बौद्धिक वातावरण व सहमति प्राप्त कर ली गयी हो। यदि इन बातों को पालन न करके कानून को लोगों पर थोपा गया, तो व्यक्तियों के मध्य सहयोगिता को क्षति होगी और एक-दूसरे व्यक्तियों के मध्य बुरी भावनायें पनपेंगी। कानून के द्वारा शक्ति प्रयोग से कभी भी किसी स्थिति, व्यक्तियों, समूहों व राष्ट्रों पर सार्वकालिक विजय प्राप्त न तो कभी की जा सकी

है और न ही की जा सकती है। हाँ, भूतकाल में इस प्रकार विजय प्राप्त की गयी थीं, किन्तु ध्यान देने योग्य है कि वो विजय और सफलतायें कुछ काल के लिये ही रह सकी; सार्वकालिक विजय/सफलतायें नहीं थी। (भावे, 1959)

यह भी एक भ्रान्ति है कि साईंस/विज्ञान का अर्थ अधिक से अधिक उत्पादन करने वाली मशीनों का निर्माण करना। यह धारणा सर्वथा असत्य है। साईंस व टेक्नोलॉजी छोटी मशीनें, उपकरण का भी निर्माण करती है; उदाहरण है घड़ी, कैमरा। मानव को तय करना चाहिये कि देश-काल, तथा मानव व सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल व मानवीयता संधारण हेतु किन प्रकर के यन्त्रों व उपकरणों के निर्माण करने के लिये साईंस/विज्ञान तथा साईंटेस्ट समुदाय को आदेश दे। (भावे, 1959)

साईंस की प्रगति, विशेषतौर पर परमाणु शक्ति के विकास, हमारे लिये वरदान तभी सिद्ध हो सकती है जबकि हम इस प्रगति और शक्ति का उपयोग दूर-दराज, छोटे-छोटे और दुर्गम स्थानों के निवासियों तक पहुँचाकर उन्हें आत्मनिर्भर बनायें। इस प्रकार से सामूहिक आत्म-निर्भरता की स्थिति तो बनेगी ही साथ ही वृहद स्तर पर मानवीय सम्बन्ध निर्मित होंगे। (भावे, 1959)

विज्ञान प्रगति के प्रभाव के कारण आज यह स्थिति है कि हम अपनी दैनिक भौतिकआवश्यकताओं की पूर्ति के लिये दूर-दराज स्थानों और राष्ट्रों पर निर्भर हो गये हैं। दूसरों पर अपनी भौतिक आवश्यकताओं के पूरा करने के लिये अश्रित होना, विज्ञान व टेक्नोलॉजी से वरदान-लाभार्थी होने के बजाय अभिशप्त होना है। अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये एक और तो हम दूसरे राष्ट्रों/ जगहों पर निर्भर है, दूसरी ओर हम अपने स्थान, अपनी भाषा, अपने धर्म, अपने छोटे राष्ट्र पर घमण्ड करते हुए मानवीयता को भूल गये हैं। तब ऐसी स्थिति में क्या उपयुक्त है? (भावे, 1959)

जरूरत है कि साईंस/टेक्नोलॉजी का वरदायी रूप ही ग्रहण करें; न कि अभिशापरूप। (भावे, 1959)

लेकिन यह सम्भव कैसे हो?

सम्भव तब है, जब हम अपनी भौतिक आवश्यकताओं को अपने स्थानीय (छोटे स्थान) से ही पूर्ति करें, और साथ ही साथ दूसरी और हम विश्व से प्रेम करें और उसके शुभचिन्तक बनें। (भावे, 1959)

दूसरे शब्दों में, मन्त्र यह है कि हमारा भौतिक अस्तित्व सीमित, और विवेक विश्वव्यापी हो। विश्व से प्रेम करें, किन्तु घी अपने घर और गाँव का खायें। सांसारिक वस्तुओं के भोग-आनन्द के पीछे भागना, विनाश का स्रोत है। हम भोग-आनन्द के अनपेक्षित मार्ग पर चलने पर नियन्त्रण कर सकते हैं और इस तरह नियन्त्रित होने का सरल सा रास्ता है; विकेन्द्रीयकरण,

प्रकृति प्रदत्त स्थानीय भौतिक वस्तुओं पर ही जीवन—यापन। मस्तिष्क विस्तृत, इच्छायें सीमित तथा सादा जीवन, उच्च विचार— ये हैं मन्त्र पालन करने के लिये। (भावे, 1959)

प्रश्न उठता है कि यदि इच्छायें सीमित कर स्थानीय वस्तुओं को आधार बनाकर आरामदायक जीवन कैसे बन पायेगा?

उत्तर है, सम्भव है। विज्ञान प्रगति, विस्तार व प्रचार से स्थानीय स्थितियों में सुधार होगा और स्वस्थ, स्वच्छशारीरिक व आवश्यक मानसिक अवस्था हेतु जरूरत की वस्तुयें भी उपलब्ध होगी; ज्ञान बढ़ोत्तरी भी होगी; श्रम का उपयोग भी होगा; वैश्विक समरसता भी रहेगी। हाँ, दासता नहीं रहेगी; और रहनी भी नहीं चाहिये। मन्त्र यह है: इच्छाओं का विकेन्द्रीयकरण और विचारों का वैश्वीकरण। इस प्रकार साईंस की प्रगति आत्मज्ञान हेतु हितकारी पायी जाती है; शर्त / मन्त्र यह है कि साईंस का उचित प्रयोग आत्मज्ञान से किया जाये और साथ ही अपनी इच्छाओं को सीमित रखा जाये। (भावे, 1959)

मार्क्सवाद और रूस की नृशंस हत्याओं के बाद यह साफ हो गया कि तात्त्विक दृष्टि से भौतिकवाद में न तो नैतिक व्यवहार के लिए कोई आधार है और न अच्छा बनने के लिए कोई प्रेरणा या अभिक्रम ही। (नारायण, 1957)

मनुष्य, उसकी चेतन—शक्ति, समाज और संस्कृति—जिसका उसने निर्माण किया है— यदि ये सब भूत—द्रव्य की, फिर यह द्वन्द्वात्मक दृष्टि से चाहे कितना ही सक्रिय क्यों न हो, अभिव्यक्ति मात्र है। तो क्यों किसी व्यक्ति को अच्छा बनने, अर्थात् उदार, दयावान और निःस्वर्धी बनने की कोशिश करनी चाहिए? तब किसी दुर्बल, दीन और दुःखी के प्रति किसीको सहानुभूति क्यों होनी चाहिए? मृत्यु के उपरान्त जो भूत—द्रव्य है, यह भूत—द्रव्य में विलीन हो जायगा। अतएव नैतिक व्यवहार के लिए उससे क्या प्रेरणा मिल सकती है? सत्ता या सम्पत्ति की भोग—वासना या जनता से जयजयकार कराने अथवा अपने समकक्षियों से आदर पाने की आकांशा—उसके सामने काम करने के लिए ये ही प्रलोभन हो सकते हैं। किन्तु ऐसे प्रलोभनों का सही या गलत मूल्यांकन से कोई सम्बन्ध नहीं रह सकता। (नारायण, 1957)

नैतिक आदर्शों का निःसन्देह एक इतिहास है, उनका एक सामाजिक हेतु है। किन्तु जब मनुष्य अपने परम्परागत आचार—व्यवहार के सिद्धांतों में ही शंका करने लगता है और अपने से पूछता है कि मैं नैतिक नियमों के अनुसार आचरण क्यों करूँ, तो भौतिकवाद के पास उसके लिए कोई जवाब नहीं मिलता। समाज—सेवा, त्याग, स्वतंत्रता, समानता और अन्य सब आदर्शों को लेकर किसीने बहुत समय बिताया हो, किन्तु बाद में यदि वह अपने से पूछने लगे कि मैं इन आदर्शों को बिलकुल ही स्वीकार क्यों करूँ और इनकी वजह से नाहक परेशानी और घाटा क्यों सहूँ, तो भौतिकवादी तत्वज्ञान, द्वन्द्वात्मक या अन्यथा उसे कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सकता। (नारायण, 1957)

इस संकट से मुक्त होने का एक रास्ता यह मान लेना हो सकता है कि मनुष्य एक यंत्र है, उसकी गतिविधि यथानिश्चित रहती है। किन्तु उसे किसी भी वाद का अनुयायी भी मनुष्य को एक जड़ यंत्र बनाकर रखने को कभी तैयार नहीं होगा। (नारायण, 1957)

कौन पहले आया, यह प्रश्न नहीं है। दरअसल बात यह है कि आज सृष्टि में जितने प्रकार हैं, उनका वर्णन जड़ या चेतन के रूप में हो सकता है। यह कल्पना कर लेना गलत है कि आदि-कारण कुछ भी हो, चैतन्य का ज्ञान उसी तरह हो सकता है, जैसे जड़ का। जबकि जड़ के नियम चैतन्य के क्षेत्र में लागू नहीं हो सकते। (नारायण, 1957)

जड़ का अध्ययन एक वस्तु-आधारित अन्वेषण है, जब कि चैतन्य का अध्ययन है एक आन्तरिक अनुभूति। जड़ पदार्थ का अध्ययन यानी वस्तु-आधारित अन्वेषण। संक्षेप में, विज्ञान, लाजमी तौर पर नीति-निरपेक्ष होता है। चेतन-शक्ति को जड़-पदार्थ का एक व्यवहार मात्र बताकर भौतिक वैज्ञानिकों व भौतिकवादियों ने नैतिकता की बुनियाद ही खत्म कर दी है। विज्ञानवादी और भौतिकवादी ही नहीं, बल्कि वे भी, जो तात्त्विक दृष्टि से उनसे मतभेद रखते हैं, चेतन-शक्ति को विज्ञान के तरीकों से समझना चाहते हैं। इसलिए मनोविज्ञान भी नैतिक मूल्यों का कोई आधार नहीं हो सकता। विज्ञान के लिए भी चेतन-शक्ति को समझ पाना सम्भव नहीं है, क्योंकि वह एक अन्तरानुभूति की चीज है। अन्तरानुभूति अपने गुण के कारण ही भौतिक उपकरणों के द्वारा व्यक्त नहीं की जा सकती। इसलिए सारे वेदान्तियों या सूफियों और योगियों को, जिन्हें आत्मा की यथार्थता या पूर्णब्रह्म की अनुभूति थी, किसी भाषा में उसे व्यक्त करना सम्भव नहीं हुआ। जैसा कि रोजर गाडेल ने कहा है: "तत्त्वज्ञानी अपने तत्व चिन्तन में मग्न रहता है; सन्त या सूफी का जीवन ही उसका सदुपदेश होता है।" (नारायण, 1957)

आधुनिक विज्ञान एक ऐसे स्थल पर पहुँच गया है, जहाँ भूत-द्रव्य और चेतन-शक्ति का द्वैत इतना झीना पड़ गया है कि द्वैत मालूम ही नहीं होता। गाडेल ने अपने लेख 'समकालीन विज्ञान और योग का मुक्तिदायी अनुभव' में कहा है: विज्ञान इस द्वैत की पूर्ण व्याख्या नहीं कर सकता, क्योंकि किसी बाह्य पदार्थ के अध्ययन में द्रष्टा और दृश्य भिन्न रहेंगे ही, भले वे एक-दूसरे में खूब गुँथे हुए और हिले-मिले हों। केवल अन्तिम आध्यात्मिक अनुभूति में ही यह द्वैत नष्ट होता है, जब द्रष्टा एवं दृश्य एक हो जाते हैं। (नारायण, 1957)

मनुष्य जब सृष्टि के समष्टिरूप को समझने या उसके साथ आत्म-साक्षात्कार करने का प्रयास करता है, तो नैतिक मूल्य पैदा होते हैं। इस समष्टि का जिसे अनुभव हो गया है, उसके लिए नैतिक मूल्यों के अनुसार आचरण करना उतना ही सहज और स्वाभाविक हो जाता है, जितना सांस लेना। (नारायण, 1957)

सारे कारोबार-व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक या दूसरे सबका एक समष्टिरूप होना चाहिए और इस समष्टि का केन्द्र-बिन्दु होना चाहिए जीवन का तत्त्वज्ञान। (नारायण, 1957)

भौतिक समृद्धि को देवता-तुल्य बना देने और भौतिक पदार्थों की अक्षुण्ण भूख को शान्त करनेवाली जीवन-दृष्टि को प्रोत्साहित करने से न तो यहाँ काम चलेगा और न कहीं अन्यत्र ही। यदिलगातार यह भूख उनको सताती रही, तो न लोगों के दिल और दिमाग में शान्ति रहेगी और न एक दूसरे के बीच आपस में ही शान्ति रहेगी। उससे व्यक्तियों, दलों और राष्ट्रों के बीच अवश्य ही एक अनियंत्रित स्पर्धा खड़ी हो जायेगी। प्रत्येक व्यक्ति अपने पड़ोसी से आगे बढ़ने की कोशिश करेगा और प्रत्येक राष्ट्र केवल दूसरे राष्ट्रों को पकड़ने को ही नहीं, बल्कि उन सबको पीछे छोड़ जाने की कोशिश करेगा। इस प्रकार के असन्तुष्ट समाज में हिंसा और युद्ध उसकी एक खासियत हो जाते हैं। जीवन के समस्त मूल्य 'और चाहिए', 'और चाहिए' की सर्वोपरि इच्छा के अधीन हो जायेगें। धर्म, कला, दर्शन, विज्ञान, सबको 'अधिक चाहिए', 'और भी अधिक चाहिए' के एक लक्ष्य को पूर्ति में लग जाना पड़ेगा। समता, स्वतंत्रता, बन्धुत्व सब-के-सबको भौतिकवादी की सार्वभौमिक बाढ़ में डूब जाने का खतरा पैदा हो जायगा। मानव-जीवन में कोई अन्य सहारा, कोई सच्चा सन्तोष नहीं रहेगा; क्योंकि जितना ही अधिक किसी के पास होता, उतनी ही अधिक उसकी भूख बढ़ती है। (नारायण, 1957)

नैतिक जीवन और मानवीय व्यक्तित्व के विकास तथा समस्त मानवीय गुणों और मूल्यों के फूलने-फलने के लिए शारीरिक क्षुधाओं पर नियन्त्रण जब तक समाज के सदस्य अपनी आवश्यकताओं पर नियंत्रण रखना नहीं सीखते, स्वेच्छा से चीजों को बाँट लेना यदि असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य होगा। समाज, निश्चय ही दो टुकड़ों में बाँट जायगा: एक उन लोगों का, जो दूसरों को अनुशासित करने का प्रयत्न करते होंगे और दूसरा, बाकी बचे हुए सब लोगों का। समाज की इस प्रकार की व्यवस्था में एक प्रश्न हमेशा सामने रहता है, अनुशासित करनेवालों पर अनुशासन कौन रखेगा, राज्य करनेवालों पर राज्य कौन करेगा? इस नित्य प्रश्न का उत्तर देना बहुत ही कठिन है। इसका एक ही हल मालूम होता है और वह यह कि उपर से अनुशासन करने की आवश्यकता और उसके क्षेत्र को जितना अधिक-से-अधिक सम्भव हो, संकुचित और सीमाबद्ध किया जाय। यह हो सकेगा, इस बात का इतमिनान दिलाने पर कि समाज का प्रत्येक सदस्य आत्मानुशासन से काम करता है। (नारायण, 1957)

मानव-समाज कुछ इस तरह विकसित हुआ है कि उससे आज की पेचीदा औद्योगिक सभ्यताएँ ही निकली हैं। विज्ञान ने अखिल विश्व को सिकोड़कर एक पड़ोस बना दिया है। किन्तु मनुष्य ने एक ऐसी सभ्यता का निर्माण कर लिया है कि पड़ोसी भी अपरिचित बन गये हैं। इस प्रकार का पेचीदा और उपर से बोझिल समाज अफसरशाहों, व्यवस्थापकों, यंत्रज्ञों और अंकशास्त्रियों के लिए स्वर्ग बन जाता है। इस प्रकार का समाज एक घर नहीं बन सकता, जहाँ भाई भी भाई-भाई की तरह एक साथ रह सकें। (नारायण, 1957)

यदि मनुष्य छोटे-छोटे समुदायों में रहे, तो स्व-शासन, स्व-व्यवस्था, पारस्परिक सहकार और समानता, स्वतंत्रता, बन्धुत्व, इन सबका प्रयोग और विकास बेहतरी के लिए हो सकता है। (नारायण, 1957)

इसके अतिरिक्त मनुष्य प्रकृति और संस्कृति दोनों की उपज है। इसलिए उसके सन्तुलित विकास के लिए यह आवश्यक है कि प्रकृति और संस्कृति के बीच मधुर समरसता पैदा की जाय। लेकिन पार्को और हरे-भरे मार्गों के बीच होते हुए भी लन्दन, पेरिस, न्यूयार्क, मास्को जैसे आधुनिक सभ्यता के केन्द्रों में इस प्रकार की समरसता कायम करना सम्भव नहीं। इसी का परिणाम है कि आधुनिक मनुष्य का विकास विकृत और एकांगी हो गया है। प्रकृति और संस्कृति का सरस सम्मिश्रण अपेक्षाकृत छोटे-छोटे समुदायों में ही सम्भव हो सकता है। एलडेस हक्सले की 'साईस लिबर्टी एण्ड पीस' “*अब यह काफी स्पष्ट हो गया है कि मनुष्य की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ, उसकी आध्यात्मिक आवश्यकताओं की कौन कहे, तब तक पूरी नहीं हो सकती, जब तक उसका व्यक्तिगत स्वतंत्रता और एक स्वशासित दल के रूप में एक-दूसरे के प्रति और पूरे दल के प्रति व्यक्तिगत उत्तरदायित्व न हो, 2. उसके कार्य में एक खास सौन्दर्य की भावना और मानवीय गौरव न हो और जब तक 3. अपने प्राकृतिक वातावरण के साथ उसका सकेन्द्रिय और गहरा अन्योन्याश्रय सम्बन्ध न हो।*” (नारायण, 1957)

विज्ञान दो तरह का है: 1. शुद्ध विज्ञान, 2. उपयोगी विज्ञान। मैं केवल शुद्ध विज्ञान को ही विज्ञान कहूँगा, दूसरा तो यंत्रकला है। फिर विज्ञान का उपयोग स्वतः विज्ञान पर निर्भर नहीं करता, बल्कि समाज की प्रवृत्ति और गठन पर निर्भर करता है। बड़ी-बड़ी मशीनों के द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन करना रूपया कमानेवालों के लिए लाभदायक था, इसलिए यंत्र-कला ने उस विशिष्ट प्रकार के उत्पादन का मार्ग अपनाया। समाज में पैसा कमानेवाले पूँजीपतियों का प्रभाव था, इसलिए उनके मन की बात होने ही वाली थी। अपने आदर्शों की चिंता न करते हुए सरकारों ने भी केन्द्रित और बड़े पैमाने पर उत्पादन को पसन्द किया। क्योंकि युद्ध करने के लिए अथवा आप चाहें, तो संरक्षण के लिए भी कह सकते हैं, उसकी आवश्यकता थी। इसलिए भी उसका महत्त्व था कि उसके द्वारा सारी आर्थिक और इसलिए राजनीतिक सत्ता उनके हाथों में केन्द्रित हो गयी थी। इस प्रकार सरकारों और मुनाफाखोरी ने मिलकर आधुनिक समाज के भस्मासुर को पैदा किया है। बेचारे विज्ञान का इस मामले में कोई हाथ नहीं था। किन्तु समाज ने यदि सत्ता, मुनाफा और युद्ध के लक्ष्यों को न अपनाकर शान्ति, सदभावना, सहकार, स्वतंत्रता और बन्धुत्व के लक्ष्यों को अपनाया होता, तो निश्चित ही यंत्र-कला का तदनु रूप विकास करने में विज्ञान का उतना ही उपयोग हुआ होता। वह विज्ञान की अवनति नहीं कही जाती, बल्कि विनाश के बदले निर्माण की दिशा में उसकी प्रगति ही कही जाती। आणविक शक्ति ने उत्पादन

के व्यापक वितरण और लघु-उद्योगों के विकास को पहले की अपेक्षा अधिक सम्भव कर दिया है। (नारायण, 1957)

जब तक शुद्ध विज्ञान के निष्कर्षों का उपयोग बड़े पैमाने पर उत्पादन और वितरण करनेवाली उद्योग-व्यवस्था को महंगे मूल्य पर अधिक विस्तृत और अधिकाधिक विशिष्ट बनाने में होता रहेगा, सत्ता का निरन्तर थोड़े-से-थोड़े हाथों में अधिकाधिक केन्द्रीकरण होने के सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता। आर्थिक तथा राजनीतिक सत्ता के इस केन्द्रीकरण के परिणामस्वरूप जनता निरन्तर अपनी नागरिक स्वतंत्रता, अपनी व्यक्तिगत स्वाश्रयता और स्वाशासन के अपने अवसर खोती रहेगी। निर्लिप्त वैज्ञानिक अनुसन्धान अपने में कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो केन्द्रित आर्थिक व्यवस्था, उद्योग और सत्ता के लाभ के लिए अपने उपयोग को अनिवार्य बनाती हो। यदि आविष्कारक और यंत्रज्ञ लोग चाहें, तो शुद्ध विज्ञान के निष्कर्षों को स्वतंत्र रूप से या सहकारी-मंडलों में काम करनेवाले छोटे-छोटे कारोबार के मालिकों के आर्थिक स्वावलम्बन और इसलिए राजनीतिक स्वातंत्र्य को बढ़ाने के कामों में भी उतनी ही उपयोगिता के साथ इस्तेमाल कर सकते हैं। ये छोटे धन्धेवाले भले ही बड़े पैमाने पर वितरण के लिए नहीं; बल्कि अपने योगक्षेम और स्थानीय बाजार को खपत के लिए ही क्यों न उत्पादन करते हों। (नारायण, 1957)

विज्ञान दो तरह का है: 1. शुद्ध विज्ञान, 2. प्रयुक्तविज्ञान, अर्थात् यंत्रकला, तकनीकी विकास। विज्ञान में दो प्रकार की शक्तियाँ होती हैं:—एक रचनात्मक और दूसरी विध्वंसात्मक शक्ति। विज्ञान के प्रयोग से हथियार भी बनते हैं, बड़े पैमाने पर उत्पादन करने की मशीनें भी बनती हैं, ऐश-आराम की वस्तुएँ भी बनती हैं, गैर-बुनियादी जरूरतों की वस्तुएँ भी बनती हैं। इनसे हिंसा पनपती है, पड़ोसी भी एक-दूसरे से अपरिचित बनते हैं; भाई-भाई की तरह एक साथ रहने से वंचित करते हैं; मानव सम्बन्धों में कटुता, शत्रुता, प्रतिस्पर्धा, जीत-हार भाव, उच्च-निम्न भाव, राग-द्वेष, नयी-नयी समस्याएँ, समाज में कलह, खुशहाली का आभाव आदि पनपते हैं। दूसरी ओर, विज्ञान के प्रयोग से समाज में भाई-चारा, अपनापन, प्रेम, दया, त्याग आदि मानवीय गुणों में वृद्धि होती है, स्थानीय (छोटे स्थान) से ही जीवन की जरूरी चीजों की पूर्ति होती है; विकेन्द्रीयकृत व प्रकृति प्रदत्त स्थानीय भौतिक वस्तुओं पर ही जीवन-यापन सम्भव होता है; स्थानीय स्थितियों में सुधारहोता है; स्वस्थ, स्वच्छशारीरिक व आवश्यक मानसिक अवस्था हेतु जरूरत की वस्तुएँ भी स्थानीय पर बनती हैं; ज्ञान बढ़ता है; श्रम का उपयोग होता है; वैश्विक समरसता होती है।

बड़ी-बड़ी मशीनों के द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन करने से धन अर्जित करना कुछ लोगों के लिए लाभदायक था, इसलिए यंत्र-कला ने उस उसका उत्पादन का मार्ग अपनाया। समाज में पूँजीपतियों का प्रभाव हुआ, सरकारों ने समर्थन किया, सारी आर्थिक व राजनीतिक सत्ता



पूँजीपतियों के हाथों में केन्द्रित हो गयी थी और इस प्रकार सरकारों, पूँजीपतियों और मुनाफाखोरी ने मिलकर आधुनिक समाज को बरबाद कर दिया।

वैज्ञानिक अनुसन्धान ने स्वयं केन्द्रित आर्थिक व्यवस्था, उद्योग और सत्ता को लाभ नहीं दिया; विज्ञान का कोई हाथ नहीं था। ये सब समाज ने किया क्योंकि यदि समाज सरकार, पूँजीपतियों, और घातक हथियारों नहीं साथ दिया होता, तो शान्ति, सद्भावना, सहकार, स्वतंत्रता और बन्धुत्व के लिये ही विज्ञान व तकनीकी विकास होता।

लेकिन चूँकि मानव मस्तिष्क से विज्ञान की उपज सामान्यतः रोकी नहीं जा इसलिये हिंसा रोकना भी मुश्किल।

यदि वैज्ञानिक और इंजीनियर चाहें, तो विज्ञान के विकास का प्रयोग स्वतंत्र रूप से व छोटे-छोटे कारोबारियों के आर्थिक स्वावलम्बन के लिये ही कर सकते हैं।

बुराईयों व अपराधों को कानून, यानीशक्ति का प्रयोग, बना कर और सजा देकर दूर नहीं किया जा सकता है।

अतः लोगों को ही तय करना चाहिये कि देश-काल, तथा मानव व सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल व मानवीयता संधारण हेतु किन प्रकर के यन्त्रों व उपकरणों के निर्माण करने के लिये विज्ञान को आदेश दे।

शान्ति पूर्वक हल करने का रास्ता है, अहिंसा पालक विज्ञान। घातकशस्त्रों, गोला-बारूद विध्वंसात्मक नहीं।

किसका प्रयोग किया जाये, यह निर्णय लेने वाला है 'आत्मज्ञान' (आध्यात्म व धर्म)। आत्मज्ञान यदि हमारी आँखें हैं तो विज्ञान पैर। विज्ञान का दिशा-निदेशक आत्मज्ञान होना चाहिये। और आत्मज्ञान से अहिंसा भाव उत्पन्न होता है।

भौतिकवाद में न तो नैतिक व्यवहार के लिए कोई आधार है और न अच्छा बनने के लिए कोई प्रेरणा।

मनुष्य को एक जड़ यंत्र नहीं है। मनुष्य में चेतन-शक्ति है। जड़ के नियम चैतन्य के क्षेत्र में लागू नहीं हो सकते। जड़ का अध्ययन एक वस्तु-आधारित अन्वेषण है, जब कि चैतन्य का अध्ययन है एक आन्तरिक अनुभूति, जो व्यक्ति को अच्छा, उदार, दयावान, समाज-सेवी, त्यागी, स्वतंत्रतामूलक, समानता पसंद और निःस्वर्धी बनाती है; व्यक्ति को किसी दुर्बल, दीन और दुःखी के प्रति सहानुभूति बरतना सिखाती है; नैतिक व्यवहार करना सिखाती है; सत्ता-सम्पत्ति-भोगवासना-जयजयकार/आदर पाने की आकांक्षा से कोई सम्बन्ध नहीं रखती।

लेकिन चेतन-शक्ति को जड़-पदार्थ मानकर भौतिक वैज्ञानिकों व भौतिकवादियों ने नैतिकता की कब्र खोद दी, जबकिविज्ञान के लिए चेतन-शक्ति, जो अन्तरानुभूति की चीज है और भौतिक उपकरणों के द्वारा व्यक्त नहीं हो सकती है, को समझ पाना असम्भव है, क्योंकि वह अन्तरानुभूति अपने गुण के कारण ही।

नैतिक मूल्य पैदा होते हैं जब सृष्टि को समग्ररूप से समझें या उसके साथ आत्म-साक्षात्कार करें और फिर नैतिक नियमों पर आचरण सरल और स्वाभाविक हो जाता है। इसके लिये व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक सभी क्रियायें समग्ररूपी होनी चाहिए, जिसका केन्द्र-बिन्दु जीवन का तत्त्वज्ञान होना चाहिए।

भौतिक समृद्धि को जीवन में प्राथमिकता देने का परिणाम है कि प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक राष्ट्र दूसरों को पछाड़ने में लग गये हैं; धर्म, कला, दर्शन, विज्ञान, सब 'अधिक चाहिए', 'और भी अधिक चाहिए' की पूर्ति में लग हैं; और इस प्रकार समता, स्वतंत्रता, बन्धुत्व, सच्चा सन्तोष आदि मानवता के गुण भौतिकवादी के प्रभाव से खत्म हो गये हैं। इस दुष्प्रभाव को रोकना है / बनने नहीं देना है, तो सभी को स्वेच्छापूर्वक व आत्मानुशासन से व बिना कानून व जोर-जबरदस्ती के शारीरिक क्षुधाओं पर नियन्त्रण रखना चाहिये।

विज्ञान और आत्मज्ञान (आध्यात्म और धर्म) दोनों ही अपरिहार्य हैं। अनिवार्यतः सामूहिक अहिंसा के सिद्धान्त को अपनाने की आवश्यकता है। व्यक्ति अपनी इच्छायें कम करे और अपने विचारों का वैश्वीकरण करें। भविष्य में भी विज्ञान को प्रगति करते रहना चाहिये। अधिक अच्छे ढंग से सृष्टि की प्रकृति को समझा जा सकेगा।

मनुष्य का छोटे-छोटे समुदायों में रहना; स्व-शासित रहना; स्व-व्यवस्थित रहना; समानता आधारित रहना; स्वतंत्रतापूर्वक रहना; बन्धुत्व पालन करके रहना; प्रकृति और संस्कृति के मध्य मधुर समरसतापूर्ण स्थिति में रहना आदि जरूरी है और यह सम्भव है जब व्यक्ति छोटे-छोटे समुदायों में रहें; व्यक्तिगत स्वतंत्रता रखे और साथ-ही-साथ दूसरे व्यक्तियों को अपने दल का सदस्य समझते हुए एक-दूसरे के प्रति और सभी दल आपस में उत्तरदायित्व रखें।

परमाणुशक्ति का उपयोग दूर-दराज, छोटे-छोटे और दुर्गम स्थानों के निवासियों तक पहुँचाकर उन्हें आत्मनिर्भर बनायें; सामूहिक आत्म-निर्भरता बनायें; वृहद स्तर पर मानवीय सम्बन्ध निर्मित होंगे।

विज्ञान प्रगति के प्रभाव से रोजाना की भौतिकआवश्यकताओं की पूर्ति के लिये दूर-दराज स्थानों और राष्ट्रों पर निर्भर हो गये हैं। दूसरों पर अपनी भौतिक आवश्यकताओं के पूरा करने के लिये अश्रित होना; हम अपने स्थान, अपनी भाषा, अपने धर्म, अपने छोटे राष्ट्र को भूल गये; मानवीयता को भूल गये हैं, विनाश के स्रोत भोग-आनन्द के पीछे भागने लग गये।

इन सब समस्याओं के हल हैं:- 1. एकीकृत धर्म होना: 'मैं' और 'मेरा' पन का लोप (अर्थात्, आत्मज्ञान, आत्मबल का प्रयोग, आत्मबलिदान का प्रयोग आदि); 2. इच्छाओं का विकेन्द्रीयकरण और विचारों का वैश्वीकरण; 3. मस्तिष्क विस्तृत, इच्छायें सीमित तथा सादा जीवन, उच्च विचार; 4. हमारा भौतिक अस्तित्व सीमित, और विवेक विश्वव्यापी हो; तथा विश्व से प्रेम करे व विश्व के शुभचिन्तक बनें, किन्तु उपभोग स्थानीय वस्तुओं का।

गांधी ने भी ऐसा तो कहा ही था, किन्तु उन्होंने लोगों की और भी बहुत सी समस्याओं को हल का रास्ता सुझाया था; और वो है:- नीति और नीति का पालना, जिसमें ऊपर लिखीं सब बातें समाहित हैं।

निष्कर्ष

*उपरोक्त विवेचन व निष्कर्ष पर शोधार्थिन ने यह पाया है कि 'नीति शिक्षा' में ऐसा कुछ नहीं है जो वैज्ञानिक व तकनीकी विकास में बाधा पैदा करे।*

*शोधार्थिन ने यह पाया है कि नीति शिक्षा द्वारा नीति और नीति नियमों की व्यवहार में अनुपालना से वैज्ञानिक व तकनीकी विकास में बाधा नहीं होगी।*